



अध्याय ५  
कर्म संन्यास योग



अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ५-१ ॥

अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण, आप कर्म के त्याग (संन्यास) की बात करते हैं, पर साथ ही साथ कर्मयोग (निःस्वार्थ कर्म) की बात भी करते हैं। कृपया मुझे स्पष्ट रूप बताएं कि इन दोनों में से कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है?

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकराबुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ ५-२ ॥

भगवान् श्री कृष्ण ने उत्तर में कहा - कर्म का त्याग (संन्यास) और निःस्वार्थ कर्म (कर्मयोग) दोनों ही परम लाभदायक हैं। किन्तु, इन दोनों में से, निःस्वार्थ कर्म का मार्ग कर्म के त्याग के मार्ग से श्रेष्ठ है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५-३ ॥

हे महाबाहु, यह समझो कि जो व्यक्ति द्वेष और भौतिक कामनाओं से मुक्त है वह ही सच्चा संन्यासी है। वह द्वन्द्व से परे है और आसानी से वह भौतिक बंधनों से मुक्त हो जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ५-४ ॥

केवल अनुभवहीन और नासमझ लोग ही संन्यास और कर्मयोग को भिन्न भिन्न कहेंगे। किन्तु, वास्तव में, इन दोनों में से किसी भी पथ का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति दोनों के परिणाम को प्राप्त करता है।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५-५ ॥

जो स्थिति संन्यास से प्राप्त होता है वह ही स्थिति कर्मयोग से भी प्राप्त होता है। जो व्यक्ति इन दोनों विधियों को समान रूप से देखता है वह ही सत्य को स्पष्ट रूप से देखता है।

~ अनुवृत्ति ~

वैदिक प्रणाली में जीवन के चार आध्यात्मिक वर्गों की संस्तुति की गई है, ये हैं ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहते हैं। पारिवारिक ईकाइयों को ग्रहस्थाश्रम में वर्गीकृत किया गया है, समाज के निवृत्त बुजुर्गों को वानप्रस्थाश्रम में वर्गीकृत किया गया है, और संन्यासी वे होते हैं जो संपूर्ण रूपसे त्यागी होते हैं, जो त्याग, तपस्या और ज्ञान की साधना में अपना जीवन बिताते हैं। समाज के सभी आध्यात्मिक और सामाजिक वर्गों में संन्यासियों को प्रधान माना जाता है।

वैदिक पण्डितों में कभी कभी यह विवाद उठता है कि संन्यासयोग (कर्म का पूर्ण त्याग) और कर्मयोग (निःस्वार्थ कर्म) में से कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है। भगवद्गीता में श्री कृष्ण कहते हैं कि संन्यास-योग और कर्मयोग दोनों ही मुक्ति प्राप्त करने के लिए लाभदायक हैं। दोनों मार्गों से एक ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है, किन्तु इन दोनों में से कर्मयोग बेहतर है। कुछ पण्डितों के लिए यह विषय विवादात्मक है क्योंकि उनकी समझ के अनुसार, समाज के भाग्यहीण, गरीब और भूखे लोगों के हित के लिए किए जाने वाले परोपकारी कार्य को ही कर्मयोग कहते हैं। इस तरह के परोपकारी कार्य अवश्य कल्याणकारी हैं, किन्तु हमें यह समझना चाहिए कि जब श्री कृष्ण भगवद्गीता में कर्मयोग की बात करते हैं तो वे विशेष तौर पर उन कार्यों का संकेत दे रहे हैं जो उनकी (श्री कृष्ण की) तृप्ति और आनन्द के लिए किए जाते हैं। इस प्रकार के कार्यों को कर्मयोग या भक्तियोग कहा जाता है क्योंकि इन कर्मों के फलों को श्री कृष्ण को अर्पित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, परोपकारी कार्यों को केवल “पुण्य-कर्म” कहा जा सकता है किन्तु “कर्मयोग” नहीं, जब तक उन्हें श्री कृष्ण के आनन्द के लिए अर्पित नहीं किया जाता है।

जब कर्मयोग को भक्तियोग कहकर स्थापित किया जाता है तब संन्यास-योग पर उसकी श्रेष्ठता तुरंत साफ-जाहिर होने लगती है। संन्यास-योग को निभाना अत्यंत ही कठिन है। व्यक्ति बलपूर्वक अपने इन्द्रियों को वश में रखता है, और छोटे से छोटे सुविधाओं का भी त्याग करता है, जैसे कि स्नान के लिए गरम पानी का उपयोग, आरामदायक सोने की जगह इत्यादि। व्यक्ति को जंगल में रहना पड़ता है, नियमित रूप से उपवास करना पड़ता है, और यौन-संयम जैसी तपस्याएं उसे स्वीकार करना पड़ता है। अधिकांश लोगों के लिए अगर यह असंभव नहीं तो कम से कम अत्यंत कठिन अवश्य ही है।

दूसरी ओर, कर्मयोग (भक्तियोग) को कोई भी अपना सकता है चाहे वह किसी भी अवस्था में क्यों न हो, और यह व्यक्ति जीवन के परम लक्ष्य की ओर तुरंत अग्रसर हो जाता है। कर्मयोग में व्यक्ति भक्तिकार्य में नियुक्त रहता है और बुनियादी नियमों का पालन करता है जैसे कि नशा न करना, अवैध यौन संबंध से मुक्त रहना, जुआ न खेलना, और मांस, मच्छी एवं अण्डे का सेवन न करना। इस प्रकार के नियमों को कोई भी आसानी से पालन कर सकता है। इसी प्रकार, श्री कृष्ण की श्री मूर्ति की अराधना के साथ साथ, महामन्त्र (हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे) जपने की भक्ति प्रक्रिया को भी आसानी से अपनाया जा सकता है। कलियुग में श्री कृष्ण की आराधना करने के लिए मन्त्र जाप ही अनुशंसित प्रक्रिया है। इसलिए भगवद्गीता में कर्मयोग को ही प्रथम प्राथमिकता दी गई है।

परन्तु, जब संन्यास-योग का कर्मयोग के साथ जोड़ा जाता है एवं जब एक संन्यासी श्री कृष्ण की इच्छानुसार, हर तरह के यज्ञ एवं तपस्या का निष्पादन करता है, और भगवद्गीता का ज्ञान दूसरों को प्रदान करता है, तब ऐसा संन्यासी परम सिद्धी को प्राप्त करता है, और सहजता से दोनों ही मार्गों का गुरु मान लिया जाता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।  
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥५-६॥

हे महाबाहु, कर्मयोग के बिना संन्यास दुःख का कारण बनता है। परन्तु, एक बुद्धिमान व्यक्ति जो कर्मयोग को अपनाता है वह शीघ्र ही परम-सत्य को प्राप्त कर लेता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।  
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥५-७॥

जो विशुद्ध आत्मा है वह कर्मयोग में प्रवृत्त रहता है एवं अपने मन व इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है। कर्म में प्रवृत्त रहकर भी वह कभी इससे दूषित नहीं होता और सभी जीवों के प्रति वह स्नेहभाव रखता है।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।  
पश्यशृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्चसन् ॥५-८॥  
प्रलपन्विसृजनगृह्णन्निमिषन्निमिषन्नपि ।  
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥५-९॥

जो सत्य को जानता है, वह भले ही दर्शन, श्रवण, सूंघने, खाने, चलने, शयन, श्वसन, बोलने, मलोत्सर्ग, वस्तु ग्रहण करने एवं पलखें झपकाने में भले ही सक्रीय रहे, वह यह स्पष्ट रूप से समझता है कि उसकी इन्द्रियां अपने अपने विषय-वस्तुओं में कार्यरत हैं। अतः वह यह समझता है कि, “मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ”।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।  
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥५-१०॥

जो व्यक्ति सारे बन्धनों को त्याग देता है और अपने सारे कर्मों को परम-पुरुष को अर्पित करता है, वह व्यक्ति कभी भी अधार्मिकता से दूषित नहीं होता है, उसी तरह जैसे कि एक कमल का पत्ता सदैव जल से अनछुआ रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।  
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥५-११॥

एक कर्मयोगी अपने सारे बन्धनों का त्याग करके, शरीर, मन, बुद्धी, एवं इन्द्रियों के माध्यम से केवल आत्म-शुद्धी के लिए कर्म करता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।  
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥५-१२॥

अपने कर्मों के फलों का त्याग करके एक कर्मयोगी शाश्वत शांति को प्राप्त करता है। किंतु, एक स्वार्थी कर्मी को अपने कर्म के फल में आसक्ति होता है, अतः वह उन फलों की कामना करता है और इस प्रकार वह कर्मफल के बन्धन में बंध जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।  
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥५-१३॥

अपने इन्द्रियों को वश में रखनेवाला व्यक्ति, अपने मन से सभी कर्मों का त्याग कर एवं स्वयं बिना कोई कर्म किए और न दूसरों को कर्म करने के बिना प्रेरित किए, अपने भौतिक शरीर में सुखी रह सकता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।  
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५-१४॥

परमेश्वर किसी के लिए ना तो कर्म का, न कर्मों के फलों का, ना ही उसके स्वामित्व की भावना का सृजन करते हैं। ये सभी प्रकृति के गुणों (सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण) द्वारा अधिनियमित होते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।  
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥५-१५॥

परमेश्वर किसी के पुण्य या पाप का ग्रहण नहीं करते। जीवात्माएं अज्ञान से आच्छादित होने के कारण भटके हुए हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।  
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥५-१६॥

किंतु आत्मज्ञान द्वारा जिन व्यक्तियों के अज्ञान का नाश हो गया है, उनका ज्ञान उन्हें सूर्योदय की भांति परम सत्य के दर्शन प्रकाशित करता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।  
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥५-१७॥

ज्ञान के माध्यम से जिन व्यक्तियों का अज्ञान मिट चुका है, जिनकी बुद्धि परमेश्वर में निमग्न रहती है, जो सदा परमेश्वर का चिंतन करते हैं, जो केवल परमेश्वर में निष्ठा रखते हैं, और जो परमेश्वर के गुण गाते हैं, उनका कभी पुनर्जन्म नहीं होता।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।  
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥६-१८॥

बुद्धिमान व्यक्ति, एक विद्यावान व विनम्र ब्राह्मण को, गाय को, हाथी को, श्वान को, चंडाल को, और सभी अन्य जीव-जन्तुओं को समान दृष्टी से देखता है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।  
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५-१९॥

इस भौतिक संसार में रहते हुए भी, उन व्यक्तियों ने जन्म और मृत्यु के चक्र को पार कर लिया है जिनका मन परम-सत्य के ध्यान में प्रतिष्ठित रहता है।



दोषरहित और दिव्य समभाव से शोभित, वे सदैव परम-सत्य के चिंतन में स्थित रहते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।  
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥५-२०॥

स्थिर बुद्धि, अज्ञान रहित, परम-सत्य के जानकार व परम-सत्य में ही स्थित व्यक्ति न वांछित वस्तुओं की प्राप्ति से कभी प्रसन्न होते हैं, न ही अवांछित वस्तुओं की प्राप्ति से वे कभी दुःखी होते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

श्लोक १५ में 'विभु' शब्द का अनुवाद परमेश्वर बताया गया है। यथाशब्द 'विभु' का अर्थ है 'सर्वव्यापी' और यह परमेश्वर श्री कृष्ण को ही दर्शाता है। जब चेतना सर्वव्यापी है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि वह सर्वज्ञ भी है। सर्वव्यापी और सर्वज्ञ शब्द श्री कृष्ण को ही दर्शाते हैं। किंतु अर्जुन और उनके समकक्ष अन्य जीवात्माओं को 'अणु' या सीमित माना जाता है। परम-सत्य श्री कृष्ण अनंत हैं, जबकी जीवात्माएं सीमित हैं।

कभी कभी लोग यह सोचते हैं कि भगवान् किसी तरह से इस संसार के पापों को अपने सर पर लिए मृत्यु को स्वीकार करते हैं। इस विचार में ना तो कोई समझदारी है और न ही भगवद्गीता में पाए जानेवाले आध्यात्मिक विज्ञान से इसका कोई रिश्ता है। श्री कृष्ण कहते हैं कि न ही वे किसी को पुण्य या पाप कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं और ना ही वे किसी के कर्म के फल को स्वीकार करते हैं। भगवान् हमारे पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए स्वयं मृत्यु को स्वीकार करते हैं, इस विचार को यहां पर रद्द किया गया है। भगवान् नित्य हैं, वह अजर, अमर एवं अविनाशी हैं अतः वे मृत्यु से परे हैं। जीवात्माएं भी नित्य होते हैं, परन्तु चूंकि वे जीवन की एक शारीरिक अवधारणा के अंतर्गत हैं, इसलिए जब शरीर की मृत्यु होती है तब वे भी मृत्यु का अनुभव करते हैं - हालांकि वे वास्तव में कभी नहीं मरते। परम-सत्य और उनके अवयवभूत अंश दोनों ही नित्य हैं और मृत्यु के परे हैं।

श्लोक १८ में दिव्य ज्ञान में स्थित व्यक्ति के समता की सापेक्ष दृष्टि को व्यक्त किया गया है। एक बुद्धिमान एवं ज्ञानी व्यक्ति नित्य चेतना के ईकाइयों के रूप में सभी



जीवजन्तुओं को समान दृष्टि से देखता है। जीवात्माओं के शारीरिक संरचनाओं में अंतर केवल बाहरी अंतर है। बृहद्-विष्णु पुराण के अनुसार, जीवराशियों के ८,४००,००० अलग अलग भौतिक शरीर अस्तित्व में हैं -

जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः ।  
कृमयो रुद्रसङ्घाः पक्षिणां दशलक्षकम् ।  
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानुषाः ॥

शृष्टि में ९,००,००० तरह के जलीय प्रजातियां और २०,००,००० तरह की स्थावर प्रजातियां, यानि के पेढ-पौधे हैं। ११,००,००० तरह के कीट एवं रेंगनेवाले जन्तु और १०,००,००० तरह के पक्षी हैं। ३०,००,००० तरह के चौपाया पशु और ४,००,००० तरह की मनुष्य प्रजातियां हैं।

चेतना की पृथक ईकाईयां यानि की आत्मा, एक से दूसरे प्रजाति में जन्म लेकर इन विविध प्रकार की प्रजातियों में देहान्तर करती रहती है और अंत में मनुष्य जाती तक पहुंचती है। इस प्रक्रिया को देहांतरण या पुनर्जन्म कहते हैं। यह प्रक्रिया डार्विन की क्रमिक विकासवाद या “Theory of Evolution” के समान है, किंतु स्पष्ट तौर पे यह उससे भीन्न भी है। वैदिक धारणा के अनुसार जीवन की प्रजातियां, एक प्रजाति से दूसरे प्रजाति में विकसित नहीं होती है, बल्कि यहां पर आत्मा की चित्त के एक प्रजाति से दूसरे प्रजाति में देहांतरण से विकास होता है। मनुष्य रूप में योग के माध्यम से आत्मसिद्धि प्राप्त होती है।

इसलिए, एक बुद्धिमान व्यक्ति शारीरिक भिन्नता के आधार पर भेदभाव नहीं करता। एक बुद्धिमान व्यक्ति केवल मनुष्यों में ही नहीं, बल्कि सभी जीवजन्तुओं में आत्मा को देखता है।

बाह्यस्पर्शेष्यसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।  
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥५-२१॥

जिनका मन बाहरी सुखों से अनासक्त है वह अंतरात्मा के सुख का अनुभव करते हैं। स्वयं को परम-तत्त्व से युक्त होकर वे असीम आनंद की प्राप्ति करते हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।  
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥५-२२॥

विषय वस्तुओं के संपर्क से जो सुख उत्पन्न होता है वह केवल दुःख का कारण बनता है। इस तरह के सुख का प्रारंभ और अंत दोनों ही होता है। इसलिए, हे कुन्तिपुत्र, एक बुद्धिमान व्यक्ति इन्द्रिय और उनके संबंधी विषय वस्तुओं में कोई आनंद प्राप्त नहीं करता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।  
कामक्रोधोद्भवं वेगंस युक्तः स सुखी नरः ॥५-२३॥

अपने वर्तमान के शरीर का त्याग करने से पहले जब कोई अपने इन्द्रियों को एवं काम व क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वृत्तियों को वश में करता है तब वह आत्म-संतुष्टी को प्राप्त करता है। और ऐसा व्यक्ति ही सच्चा योगी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्योतिरेव यः ।  
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥५-२४॥

जो व्यक्ति अपने अन्तरात्मा में आनन्द पाता है, जो प्रबुद्ध है, वही पूर्ण रूप से योगी है। वह मोक्ष (ब्रह्म-निर्वाण) द्वारा दिव्य पद को प्राप्त करता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।  
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥५-२५॥

वे योगी जो व्यसनों से मुक्त हैं, आत्म-संयमी हैं, जिनके सभी संशय दूर हो चुके हैं, एवं जो समस्त जीव-जन्तुओं के हित के लिए कार्य करते हैं, वे ब्रह्म-निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।  
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥५-२६॥

जो संन्यासी निरंतर सिद्धी के लिए प्रयास करते हैं, जिन्होंने अपने मन को नियंत्रित कर लिया है, जो आत्मवित हैं, एवं जो काम व क्रोध से मुक्त हैं, वे शीघ्र ही ब्रह्म-निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।  
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥५-२७॥  
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।  
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥५-२८॥

जो योगी बाहरी इन्द्रियों की गतिविधियों को बंद करके अपने भौहों के मध्य अपना ध्यान केन्द्रित करे, अपने नाक से बहनेवाले आवक और जावक श्वासों को संतुलित करके अपने इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को नियंत्रित करे, वह योगी मोक्ष की प्राप्ति के लिए निष्ठावान है। वह कभी भी काम, भय एवं क्रोध से उत्पन्न होनेवाले मनोरथों से बाध्य नहीं होते हैं और वे अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।  
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥५-२९॥

केवल मुझे ही यज्ञों व तपस्याओं का मूल भोक्ता, सारे ग्रहों का परम नियंत्रक, और सभी जीवों का हितैषी एवं मित्र जानकर व्यक्ति शांति प्राप्त कर सकता है।

~ अनुवृत्ति ~

इस अध्याय के अंतिम श्लोक में श्री कृष्ण यह घोषित करते हैं कि वे – भोक्तारं यज्ञतपसां - हैं अर्थात् वे स्वयं ही सभी यज्ञ एवं तपस्याओं के परम भोक्ता हैं। उसके बाद श्री कृष्ण यह कहते हैं कि वे - सर्व-लोक-महेश्वरं - हैं अर्थात् वे सारे ग्रहों के नियंत्रक हैं।

कुछ आधुनिक योग प्रणालियां यह सलाह देते हैं कि हमें यह सोच कर ध्यान करना चाहिए कि हम से ही ग्रहों का नियंत्रण व चलन हो रहा है। यह पूरी तरह बकवास है। जब कोई अपने आसपास के हालात को ही संभाल नहीं सकता है, तो वह ग्रहों का नियंत्रण या चलन कैसे कर सकता है? इसे ध्यान नहीं कहते - यह तो अपने आप को धोका देने के समान है।

अंत में श्री कृष्ण कहते हैं कि वे - सुहृदं-सर्व-भूतानां - हैं अर्थात् वे सभी जीवों के वास्तविक मित्र हैं। मानव सभ्यता में अब तक की सभी ज्ञात परम-सत्य की अवधारणाओं में से श्री कृष्ण की अवधारणा ही सबसे व्यापक, सबसे संपूर्ण, सबसे गहरी, एवं सबसे ठोस अवधारणा है। जीवन के मूलस्रोत की ऐसी बहुत सी अवधारणाएं हैं जो कहते हैं कि वे सबसे शक्तिशाली सृष्टिकर्ता एवं विश्व के नियंत्रक हैं, किंतु केवल श्री कृष्ण की अवधारणा ही परम-सत्य की ऐसी अवधारणा है जहां पर भगवान् को अपना सबसे प्रिय मित्र समझकर उनसे प्रेम संबंध का रिश्ता जोड़ा जाता है। यह विशेषता केवल श्री कृष्ण की अवधारणा

में ही पाया जाता है, अतएव इस अवधारणा को सर्वोच्च आध्यात्मविद्या, या योग की विधी समझा जाता है।

श्री कृष्ण कहते हैं - ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति - इस बात को जानकर व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता है। संसार में यदि कोई ऐसी वस्तु है जो दुष्प्राप्य है, तो वह अवश्य ही 'शान्ति' है। शान्ति के विषय पर हर जगह चर्चा तो होती है परन्तु उसे प्राप्त करना यदि असंभव नहीं तो अत्यंत ही दुष्कर है। भगवद्गीता में शान्ति प्राप्त करने की कुञ्जी दी गई है। धनवान या प्रसिद्ध होने से, या संसार से बचाए जाने से (by being saved), या जन्म-मृत्यु से मुक्ति पाने से भी शान्ति प्राप्त नहीं होती - वास्तविक शान्ति केवल यह जानकर प्राप्त होती है कि श्री कृष्ण हमारे सबसे प्रिय मित्र हैं। यही भगवद्गीता का संदेश है।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां  
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु  
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अतः व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए कर्म-संन्यास योग नामक पांचवे अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

